सामयिक पेपरबैक्स

मीडिया और बाजार

सम्पादक
वर्तिका नन्दा

विज्ञापन, मीडिया और बाजार

◆ *रेखा सेठी*

RSethi

विज्ञापन, मीडिया और बाजार के बीच का त्रिगुणात्मक संघटन, एक-दूसरे से शक्ति अर्जित करता है और कुल मिलाकर एक ऐसी ताकत की शक्ल इख्तियार कर लेता है कि उसकी गिरफ्त से छूटना मुश्किल हो जाए। विज्ञापन की दुनिया, बाजारवाद से जनित ऐसा जादुई तिलिस्म है, जिसमें हम और आप जैसे साधारण लोगों की हालत आश्चर्यलोक में फंसी एलिस से बेहतर नहीं। बाजार के जंगलों-महलों में उलझे-भटकते सभी स्त्री-पुरुष, बच्चों की आंखों पर चमकीली परतों का पर्दा चढ़ा है। अनजाने ही, मन के अंतरालों में जगह बना लेने वाला विज्ञापन, उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच लोकप्रिय उपस्थिति रखता है। मीडिया और बाजार की ताकत के जश्न में वह ऐसा हथियार है, जो कहीं-न-कहीं सबकी चेतना को प्रभावित करता है।

वे दिन बीत चुके हैं, जब विज्ञापन उपभोक्ता तक सन्देश पहुंचाने का माध्यम हुआ करता था। आज उसका वर्चस्व आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। लोकतांत्रिक समाजों के बड़े-बड़े चुनाव भी अब

मीडिया-दंगल में बदल गये हैं, जो कॉरपोरेट दुनिया की तरह विज्ञापन के दम पर लड़े जाते हैं। ऐसे में विज्ञापन आर्थिक गतिविधियों का मेरुदंड ही नहीं, राजनीतिक दुनिया में भी बाज़ी पलटने का सामर्थ्य रखता है। जीवन के तमाम पक्षों को प्रभावित करने वाले विज्ञापन के सामाजिक आशयों की भी अनगिनत अन्तर्धाराएं हैं, जो निरन्तर गतिशील बनी हुई हैं, उन पर भी विचार करना आवश्यक है।

विज्ञापन और बाजार से हमारा अजब 'लव-हेट रिलेशनशिप' है। ईमानदारी से सोचें तो न कोई इसके प्रभाव से बाहर है, न ही अपने हित के लिए इसका इस्तेमाल करने से कोई चूकता है, फिर भी उसके सामाजिक प्रभावों को लेकर चर्चा-आलोचना चलती रहती है। असमंजस की स्थिति यह है कि अवचेतन जिसकी जकड़न में बंधा है, चेतन स्तर पर उसका विरोध, गम्भीर प्रश्न उपस्थित करता है। संशय नैतिक-बोध से उत्पन्न है। विज्ञापन, बहुत बड़ा उद्योग है, जिस पर एक साल का अनुमानित खर्च लगभग सत्तावन हजार करोड़ रुपये है।[1] बाजारवादी संस्कृति में, आर्थिक गतिविधि के रूप में, उद्योग और व्यापार से नाभि-नालबद्ध विज्ञापन का लक्ष्य है—मार्केटिंग, ब्रांड निर्माण, मुनाफा। मुनाफ़े का गणित बाजार की धुरी है और एक व्यावसायिक गतिविधि को नैतिकता के प्रिज़्म से देखना असंगत है। यदि इस सत्य को स्वीकार कर लिया जाए तो सही-गलत का संकट खत्म समझा जाएगा। बाजारवादी नीतियां प्रत्येक सामाजिक स्थिति को इसी दृष्टि से पढ़ना चाहती हैं, लेकिन ऐसा करने के खतरे हो सकते हैं।

हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार जैनेन्द्र कुमार ने अपने निबन्ध 'बाजार दर्शन'[2] में यह विचार रखा कि 'बाजार में एक जादू है, जेब भरी हो और मन खाली हो, ऐसी हालत में जादू का असर खूब होता है। जेब खाली, पर मन भरा न हो, तो भी जादू चल जाएगा।' उनके अनुसार जिसका मन भरा होगा, जो जानता है कि वह बाजार से क्या चाहता है, वह कभी उस दुष्चक्र में नहीं फंसेगा। बाजारवादी संस्कृति में यह आदर्श स्थिति हो सकती है, लेकिन आज का समय इतने धैर्य का नहीं रहा। अपने इस लेख में कोशिश यह है कि न्यायाधीश की भूमिका अपनाये बिना विज्ञापन की सामाजिक चुनौतियों को समझा जाए, उससे उत्पन्न संकट का विश्लेषण करते हुए उपभोक्ता-अधिकारों

तथा उन संगठनों की चर्चा की जाए, जिससे हमारी स्थिति बाजार के शिकार से बदलकर सक्रिय उपस्थिति के रूप में दर्ज हो।

विज्ञापन की दुनिया का आभासी यथार्थ

विज्ञापन जिस काल्पनिक दुनिया का निर्माण करता है, वह कहीं-न-कहीं हमारी वास्तविक जीवन-स्थितियों के बहुत निकट है। उसमें हम जैसे स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, खिलखिलाते युवा, सब हैं। जीवन-स्थितियां भी हमारी पहचानी हुई हैं। रोज़मर्रा जीवन से चुनी गयी ऐसी स्थितियां, जिन्हें पर्दे पर देखकर उनसे साझेपन का अनुभव करना मुश्किल काम नहीं है, उन स्थितियों में हमारी समस्याएं भी शामिल हैं और उनके बाजारवादी समाधान भी। जीवन की अनिश्चितता का समाधान एलआईसी, बच्चे के रोने का समाधान हगीज़ या पेंपर्स, मकान-कार आसान किश्तों पर, आदि...आदि। यह फेहरिस्त कभी न खत्म होने वाली फेहरिस्त है, क्योंकि विज्ञापन ज़रूरत के लिए उत्पाद नहीं, बल्कि उत्पाद के लिए ज़रूरत पैदा करता है। आर्थिक उदारीरकरण के युग में विज्ञापन यह याद दिलाने से नहीं चूकता कि जीवन एक बहुत बड़ा उत्सव है और उस उत्सव में हर खुशी का बाजार-भाव है। रक्षा-बन्धन हो, करवाचौथ या अक्षय तृतीय उत्सव की खुशी, ब्रांड की मोहताज है और ब्रांड का सम्बन्ध आपकी आर्थिक हैसियत से जुड़ा है। रक्षा-बंधन पर बहन को खुशी उपहार में दीजिए। आपकी आर्थिक हैसियत ही तय करेगी कि आप उसे क्या दे सकते हैं—चॉकलेट, घड़ी, कपड़े, जेवर। बाजार आपको खुशी मनाने के कई विकल्प देता है। Father's day, Mother's day, Valentine's Day, Friendship Day ऐसे असंख्य दिन और उनके इर्द-गिर्द बाजार द्वारा उत्पन्न की गयी उत्सवधर्मिता। विज्ञापन, मार्केटिंग और मुनाफे का ऐसा मैट्रिक्स है, जिस पर बाजार अपनी पकड़ ढीली नहीं होने देता।

चाहे-अनचाहे, विज्ञापन के माध्यम से बाजार हमारे सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित कर रहा है। वह आचरण का एक ढांचा उपस्थित करता है, हम जाने-जनआने उसमें प्रवेश करते हैं और यह निश्चित करने लगते हैं कि हम क्या खाएं, क्या पहनें, कैसे प्रेम करें, पड़ोसी को कैसे जलाएं, सब पर अपनी शान कैसे जमाएं, सुख के हमारे लिए क्या मायने हों, समृद्धि कैसे आएगी, भविष्य कैसे सुनिश्चित होगा, अपनों से कौन हमें जोड़ेगा आदि...आदि, कितनी भी जीवन-स्थितियां क्यों न हों, जिस पर भी सोचिए, कोई एक विज्ञापन आपकी स्मृति में अवश्य जाग

उठेगा और यदि आप खरीदने की हैसियत रखते हैं तो वह आपके भौतिक संसार का हिस्सा भी होगा। इसी दृष्टि से डेविड पॉटर ने अपनी पुस्तक 'पीपल ऑफ प्लेंटी' में विज्ञापन को इंस्टीट्यूशन ऑफ एबंडेंस[3] कहा है, यानी बहुतायत की संस्था या फिर अतिरेक का संस्थानीकरण। विज्ञापन का उद्देश्य लोगों को, जन साधारण को उपभोक्ता बनने में प्रशिक्षित करना है।

उदारवाद के समय में, सामाजिक विकास की अवधारणा भी बदली है। इस बात पर बल दिया जाने लगा है कि व्यक्ति को सम्मान से जीने के लिए बुनियादी ज़रूरतों के न्यूनतम साधनों से अधिक भी कुछ चाहिए। विज्ञापन इस मांग को पूरा करता है। वह और अधिक चाहने-पाने का उत्प्रेरक है। ज़रूरतों के सीमित दायरे का अतिक्रमण करते हुए, वह हमारी सामाजिक हैसियत से हमारा परिचय कराता है। बाजार के लिए हमारी सामाजिक हैसियत का मोटा-मोटा अर्थ है कि हम कितना कमाते हैं, कितना खर्च कर सकते हैं, क्या सुविधाएं चाहते हैं, हमारे सपने-आकांक्षाएं क्या हैं। विज्ञापन का सबसे अधिक प्रभाव उस नये मध्यवर्ग पर पड़ता है, जिसमें पति-पत्नी दोनों कमाते हैं। अधिकतर विज्ञापनों का लक्षित उपभोक्ता वर्ग यही है। बाजार में, बदलती आय के साथ, सुविधाओं को लेकर इनकी प्राथमिकता बदलती रहती है। इसी से उनकी उपभोक्ता श्रेणी में भी परिवर्तन होता रहता है।

निम्न मध्यवर्ग के लिए भी विज्ञापन जगत के पास कई आकर्षक प्रस्ताव हैं। 'एक रुपये में क्या नहीं हो सकता।' 'पांच रुपये का नया मैगी', 'सिर्फ पांच रुपये में कोका कोला', 'दस रुपये का रिचार्ज' इस तरह की तमाम योजनाएं तथा विज्ञापन की ऐसी पेशकश नया उपभोक्ता-वर्ग तैयार करता है। विज्ञापन के पैरोकार, इस सारी स्थिति को नये तरह का आर्थिक लोकतंत्र मानते हैं। उनके अनुसार ये, छोटे-छोटे ऑफर अर्थ-आधारित उपभोक्ता श्रेणियों की जड़ता को तोड़ते हैं। उदारीकरण से पहले ऐसा सम्भव नहीं था। मैकडॉनल्ड से पहले एयरकंडीशंड रेस्तरां केवल सम्भ्रान्त वर्ग के लिए थे। अब छोटी आय वाला भी एयरकंडीशंड रेस्तरां में बैठकर आइसक्रीम खा सकता है। एक रुपये में कॉफी का पैकेट खरीदकर कॉफी पी सकता है। इस आर्थिक जनतंत्र ने बहुत से लोगों के लिए वर्जित 'पब्लिक स्पेस' सुलभ कराया। पॉपुलर संस्कृति के अध्येताओं ने बाजार और विज्ञापन की प्रेरक सकारात्मक व्याख्याएं भी प्रस्तुत की हैं। ऐसे सभी संकेत विज्ञापन को लेकर मन की उलझन को और गहराते हैं।

विज्ञापन जिन सामाजिक अंतर्धाराओं को पकड़ता है, उनमें समाज हैं, सामाजिक सम्बन्ध भी हैं, लेकिन जिन सामाजिक-ऐतिहासिक ताकतों के संघटन-विघटन के आधार पर समाज निर्मित होता है, वह सामाजिक प्रक्रिया गायब है। विज्ञापन का आभासी यथार्थ हमारी दुनिया के बहुत करीब होकर भी उससे बहुत दूर है, क्योंकि वहां धड़कते दिल और सवालिया दिमाग वाला व्यक्ति नहीं, बिकवाली ग्राफ पर उपभोक्ता श्रेणियों में तब्दील आंकड़े हैं। व्यावसायिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विज्ञापन किसी भी प्रकार के आलोचनात्मक रवैये को सायास खत्म कर भावुकता भरे सम्मोहन को जन्म देता है। इसका प्रभाव हमारे भौतिक जगत पर ही नहीं, हमारे सपनों व आकांक्षाओं पर भी है।

इस स्थिति का सबसे अच्छा उदाहरण गोरेपन की सौन्दर्य-क्रीम है। 'फेयर एंड लवली' और उसके बाद, मर्दों के लिए बने 'फेयर एंड हैण्डसम' ने गोरेपन के सौन्दर्य प्रसाधनों को बहुत बड़ा ब्रांड बना दिया, जिसने लोकप्रिय सेलिब्रिटीज के दम पर पूरे बाजार पर कब्जा कर लिया। अब यदि विज्ञापन-कर्मियों की यह दलील मानें कि विज्ञापन सामाजिक सच्चाइयों का आईना है तो यह बात अंशतः सही है। भारतीय समाज सदा से त्वचा के रंग को लेकर कुंठाग्रस्त रहा है। गोरेपन की क्रीम गौरवर्ण को आत्मविश्वास का सूचक बनाकर प्रस्तावित करती है। गोरा रंग आत्मविश्वास पैदा न भी करता हो तो भी सांवला रंग अवश्य ही हीन-भावना उत्पन्न करता है। इस क्रीम के विज्ञापनों ने इसी तथ्य का लाभ उठाया। सौन्दर्य प्रसाधन जिस प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी मानसिकता को पुष्ट करते हैं, यह विज्ञापन उस ओर या उससे मुक्ति की ओर ध्यान नहीं ले जाता, उसने तो कल्पना में भी सौन्दर्य को गोरेपन का प्रतीक बनाकर स्थापित कर दिया है। इस सारी प्रक्रिया में विमर्श का स्पेस गायब है। वस्तुओं का ही नहीं, इस बाजार में हर भावना, हर संवेदना का भी मूल्य है, तभी तो जॉनसंस बेबी पाउडर, ममता का नया नाम हो गया और हीरा, प्रेम का प्रतीक। संवेदनाओं के इस बाजार-भाव से मानव समाज की मूल्य-व्यवस्था की सबसे बड़ी हानि हुई है।

यदि यह आभासी यथार्थ हमारे वास्तविक यथार्थ से टकराये तो निश्चित दिशा दिखाने वाले निष्कर्ष निकलेंगे, किन्तु अभी तो स्थिति यह है कि विज्ञापन का यथार्थ कुछ सामाजिक स्टीरियोटाइप्स की रचना कर रहा है, जिनका अस्तित्व जीवन से कहीं बड़ा, मोहक और चमकीला बनकर हमारी चेतना को ग्रस रहा है।

इस दृष्टि से स्त्री और बच्चे सबसे संवेदनशील वर्ग हैं, जो विज्ञापन से प्रभावित भी हैं और उसके मिथक का हिस्सा भी, अब उनकी चर्चा...

जेंडर स्टीरियोटाइप और विज्ञापन का बाजार

विज्ञापन की दुनिया हमारी दुनिया का मिनिएचर है। आभासी दुनिया में दिखाई देते स्त्री-पुरुष, बच्चे, परिवार, घर के फोटो-फ्रेम में जड़े चित्रों की तरह हैं, जिनकी स्थिर छवियों से सामाजिक अंतर्सम्बन्धों की प्रक्रिया का भान नहीं होता। सतह पर ये छवियां वर्ग-चरित्र को प्रश्रय देती हैं, क्योंकि लक्षित उपभोक्ता व्यक्ति नहीं, वर्ग है। इस वर्ग-चरित्र में स्त्री-पुरुष दोनों के सर्वसाधारण मानदंड हैं, जिनसे जेंडर स्टीरियोटाइप निर्मित होते हैं।

विज्ञापन में स्त्री का ऐन्द्रीय रूप प्रमुख है। वह गुड़िया-सी हसीन, जवानी की उमंग में चहकती-किलकती दिखाई देती है। उत्पाद कोई भी हो, स्त्री का मुस्कराता-लुभाता चेहरा उसकी अपील है। विज्ञापनों में प्रस्तुत स्त्री-छवि का यह दायरा बहुत सीमित है। उसका प्रयोग या तो उसके देह सौन्दर्य की प्रस्तुति के लिए होता है या पारिवारिक ढांचे को बांधे रखनेवाली कड़ी के रूप में। उसकी सारी समझदारी इसी बात में है कि वह कौन-सा वॉशिंग पाउडर खरीदती है, बच्चे को सर्दी-जुकाम होने पर कौन-सा वेपोरब लगाती है और पति को बीमा खरीदने के लिए किस तरह इसरार करती है। दोनों ही तरह की छवियां समाज के पितृसत्तात्मक ढांचे को मजबूत करती हैं। यहां स्त्री के अपने सवालों, अपने मुद्दों के लिए कोई स्पेस नहीं। रोज़ बसों-मेट्रों में धकियायी जाती, घरेलू हिंसा की शिकार महिलाएं, घर-दफ्तर के बीच सन्तुलन साधने की कोशिश में खुद टूटती स्त्रियां इस दुनिया में कोई जगह नहीं पातीं, यहां तक कि जब बड़ी संख्या में भारतीय स्त्रियां नौकरी करने घरों से बाहर आयी, तब भी विज्ञापन की दुनिया इन काम-काजी महिलाओं का चित्रण करने से चूक गयी।[4]

यह स्थिति, समाज में स्त्री के वशीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। झिलमिलाते परदे पर दिखने वाली छवियां स्त्रियों के मन की भीतरी सतहों पर भी अपनी जगह बना लेती हैं। वह वैसी ही दिखना चाहती है, वैसे ही बोलना चाहती है, जैसा कि रूपहला पर्दा उसे सिखाता है, क्योंकि वह रूप उसे आश्वस्त करता है। ऐसा न होता तो 'फेयर एंड लवली' इतना बड़ा ब्रांड कैसे बनता? स्त्री की योग्यता उसकी खूबसूरती की मोहताज है। सिर्फ पुरुष ही स्त्री को इस नज़र से

नहीं देखते, स्त्री स्वयं भी इसमें विश्वास करने लगी है, जो काफी चिन्ताजनक है। अपने सपनों की जिस कुंजी को वह ढूंढ़ रही है, विज्ञापन उसके लिए जो विकल्प देता है, वह अत्यन्त भ्रामक है।

विज्ञापन में स्त्री देह के प्रयोग का भी अपना मिथ है। आज के समय में यह मसला और भी पेचीदा हो गया है। बढ़ते उपभोक्तावाद के साथ जो लुभावने चित्र परोसे जा रहे हैं, स्त्री स्वयं उनका शिकार हो गयी है। कहीं-न-कहीं वह खुद ही अपनी देह पर आसक्त होने लगी है। अपने लिए सोचने, फैसला करने के हक की आज़ादी को बाजार ने उसकी देह तक सीमित कर उसकी स्वतंत्रता को सौन्दर्य प्रसाधनों का अनुगामी बना दिया। विज्ञापन के जादू ने उसे यह विश्वास दिलाया है कि उसका आत्म-विश्वास, उसकी आक्रामकता, सब उसकी खूबसूरती पर टिके हैं, यहां तक कि विज्ञापन में स्वयं को देह के रूप में परोसने से भी अब उसे कोई हिचक नहीं। विज्ञापन-उद्योग उसके सपनों-महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने का माध्यम है, जिसके लिए वह किसी भी तरह का समझौता करने को प्रस्तुत है, यानी कल तक जो उसकी विवशता थी, आज वह उसका अपना चयन है।

स्त्री के ही समान पुरुष के भी स्टीरियोटाइप हैं। विज्ञापन में प्रस्तुत पुरुष भरोसेमंद खुदमुख्तार, निर्णायक, शारीरिक रूप से बलिष्ठ, माचोमैन है। उसकी अपनी आन-बान और शान है। उसकी भूमिका संरक्षक की है, जो हर स्थिति में सब सम्भाल लेता है, घर हो या दफ्तर, उसका व्यक्तित्व आश्वस्ति भरा है। माता-पिता, पत्नी-बच्चे सब उसके साए में सुरक्षित महसूस करते हैं। जीवन बीमा निगम का एक विज्ञापन उसे इस रूप में प्रस्तावित करता है, जो मृत्यु के बाद की भी ज़िम्मेदारियां अपने जीवनकाल में पूरी करके जाता है। पुरुष की यह छवि भी, न सच्ची है, न ईमानदार। वह हर समय पूर्ण-पुरुष होने के दबाव को नहीं निभा सकता। विज्ञापन की दुनिया यदि स्त्री पर खूबसूरत दिखने का दबाव डालती है तो पुरुष की भी सांचे गढ़ी तस्वीर बनाती है, जिस पर खरा उतरना उसके लिए हमेशा सम्भव नहीं है। दूसरी ओर, अब बाजार में स्त्री देह की ही तरह पुरुष देह भी बिकाऊ हो गयी है। शाहरुख खान लक्स साबुन के ब्रांड एम्बेसडर बनाकर बाथ-टब में प्रस्तुत किये गये। आजकल तमाम डिओडोरेंट के विज्ञापन पुरुष को सेक्स-सिम्बल बनाकर प्रस्तुत करते हैं।

विज्ञापन के व्यावसायिक सरोकारों में स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, सब व्यापारिक रणनीति का हिस्सा हैं, उन्हें अतिरंजित रंगों में प्रस्तुत कर विज्ञापन अपनी

हित-साधना कर रहा है, लेकिन संकट इन छवियों द्वारा गढ़े जा रहे सामाजिक-अन्तर्सम्बन्धों के समीकरण का है, जो हमारे अवचेतन में बैठकर हमारे जीवन को नियंत्रित करने लगता है।

इन दिनों, विज्ञापनों में जेंडर रोल में कुछ बदलाव भी दिखायी पड़ रहे हैं। पति, पत्नी को खुश करने के लिए खाना बनाता है, घर सजाता है। इक्का-दुक्का विज्ञापनों में पत्नी, पति के साथ होते हुए भी दफ्तर के काम में उलझी दिखने लगी है। ये छवियां क्या किसी सामाजिक परिवर्तन की संकेतक हैं? भूमंडलीकरण एवं उदारवादी नीतियों के परिणामस्वरूप कम-से-कम शहरों में यह स्थिति अवश्य पैदा हुई है कि अधिकांश महिलाएं पढ़-लिखकर अपना क्षितिज तलाश रही हैं। वे ऊंची नौकरियां करती हैं, समाज में उनकी अपनी पद-प्रतिष्ठा है। विज्ञापन जगत कभी अपनी सुविधा के लिए स्त्री की पारम्परिक छवि को प्रमुखता देता है तो कभी इस नयी स्त्री को प्रतिष्ठित करता है, जो समर्थ भी है, स्वतंत्र भी। पति से उसके सम्बन्धों में भी जेंडर अनुक्रम की अपेक्षा मैत्री का भाव अधिक है। दोनों पति-पत्नी काम करते हैं और खुशहाल ज़िन्दगी जीते हैं। यह भारत का उभरता हुआ नया मध्यवर्ग है, जो सबसे बड़ा उपभोक्ता-वर्ग बन गया है। इस वर्ग में घर और बच्चों की सभी ज़रूरतों की खरीददारी का निर्णय स्त्री-पुरुष दोनों की सहभागिता से होता है। फ्रिज, टी.वी., वाशिंग मशीन, ए.सी., नयी कार, सब मिलकर खरीदे जाते हैं और साथ-साथ उनकी किश्तें चुकाई जाती हैं। इस उपभोक्ता-वर्ग को सम्बोधित विज्ञापनों की जेंडर-संरचना में कुछ नयापन अवश्य है। बाजार की ज़रूरत जेंडर स्टीरियोटाइप गढ़ती है तो अपने लाभ के लिए उन्हें तोड़ती भी है।

विज्ञापन, बच्चे और बाजार

कल्पना में बुनी, बच्चों की सतरंगी दुनिया में भी विज्ञापन का 'ग्लैमर' छाया रहता है। उनके लिए विज्ञापन का संसार सुखी जीवन की तस्वीर है, जिसे वे भले ही बड़ों की तरह न समझते हों, लेकिन उससे अभिभूत ज़रूर रहते हैं। एक-दो साल के अबोध बच्चों से लेकर किशोर-युवा मन तक विज्ञापन के चंचल चित्रों से बंधा रहता है। विज्ञापन के बच्चों के भी अपने स्टीरियोटाइप हैं। वे रोटी-सब्ज़ी, दाल-चावल खाते साधारण बच्चे थोड़े ही हैं। वे मैगी और पेप्सी के युग के बच्चे हैं। चेहरे पर थोड़ी-सी मासूमियत और थोड़ी शरारत लिए जब ये आंखें चमकाकर

कहते हैं, 'आई लव यू रसना' तो सबका मन मोह लेते हैं। विज्ञापन जगत के इन सुपर-स्टारों द्वारा की जानेवाली अपील में सच्चाई झलकती है। आज वे बड़े-बड़े ब्रांड के एम्बेसडर हैं। विज्ञापन में दिखने वाले बच्चे सहज ही हमारे संवेदना-संसार में शामिल हो जाते हैं और ब्रांड को याद रखने में मदद करते हैं। मर्फी बेबी और रसना बेबी को सबका प्यार मिला। आकर्षक मार्केटिंग रणनीतियों द्वारा बाजार ने बच्चों की नादानी को बखूबी भुनाया है।

आज का बच्चा बाजार में खरीददार की भी हैसियत रखता है। वह बाजार के लिए ऐसा लक्षित उपभोक्ता है, जिसकी पसन्द को केन्द्र में रखकर, उसके अनुसार नये-नये उत्पाद बनाये जाते हैं। बार्बी डॉल, जीआईजो, बेन टेन...बच्चों का मन बहलाने वाले उपकरणों का बड़ा बाजार है। बच्चों के कपड़े, साबुन, तेल, शैम्पू सब बड़े ब्रांड हैं। इनके साथ टॉफी, चाकलेट, बिस्कुट, जैम अनेक खाद्य पदार्थ बच्चों को ललचाने के लिए बाजार में मौजूद हैं। बाल-उपभोक्ताओं के लिए उनकी अपनी ज़रूरत का सामान एक वर्ग-श्रेणी है तो बच्चों की पसन्द दूसरी श्रेणी निर्मित करती है यानी पापा कौन-सी गाड़ी लेंगे, इसका निर्णय भी बच्चों की पसन्द पर निर्भर है। घरों में टी.वी., फ्रिज, म्यूज़िक सिस्टम आदि कई छोटी-बड़ी चीज़ें खरीदने में बच्चों की प्रेरक भूमिका रहती है। निश्चित है इन नन्हे उपभोक्ताओं को बस में करना बाजार को आसान लगता है लेकिन संकटपूर्ण सवाल बच्चों की मानसिकता पर इन विज्ञापनों के प्रभाव का है।

इस सम्बन्ध में जो सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुए हैं, उनसे यह सिद्ध हुआ है कि विज्ञापन बच्चों को ऐसी दुनिया में ले जाते हैं, जहां सुख और उपभोग के साधन उन्हें ललचाते-लुभाते हैं और यदि ये सब उन्हें न मिलें तो उनकी कुंठाएं बढ़ने लगती हैं। शैलजा बाजपेयी तथा नमिता उन्नीकृष्णन अपने अध्ययन Impact of Television Advertising on Children में इस निष्कर्ष तक पहुंचती हैं कि जो माता-पिता या अभिभावक अपने बच्चों को विज्ञापनों में दिखने वाला सामान या सुविधाएं उपलब्ध कराने में समर्थ नहीं हो पाते, बच्चे उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं, यहां तक कि उन्हें उस सामाजिक ढांचे से नफरत होने लगती है, जिसमें वे इन उपभोक्तावादी गतिविधियों में शामिल नहीं हो पाते।[5] विज्ञापन की गिरफ्त में उलझे ये बच्चे खुद को बाजार की नज़र से आंकने लगते हैं। इच्छा और प्राप्ति के इस बाजारवादी पाठ को विज्ञापन के माध्यम से ग्रहण करते हुए बच्चे, बाजारवाद के असली एजेंडे से बेख़बर हैं।

बच्चों से उनका बचपन छीन लेने की इस पूरी प्रक्रिया में आंतरिक हिंसा के सूत्र हैं। विज्ञापन उनकी चेतना पर ऐसे अधिकार करता है कि आकर्षक साजो-सामान खरीद पाना ही उन्हें जीवन का ध्येय लगने लगता है। इस सन्दर्भ में एक विज्ञापन मुझे भुलाये नहीं भूलता। यह विज्ञापन है "ब्रिटानिया ट्रीट बिस्कुट' का। इसका स्लोगन है—'ट्रीट तो ले ही लेंगे'। इसकी कहानी दो छोटे भाइयों के इर्द-गिर्द बुनी गयी है। बड़ा भाई पढ़ रहा है, छोटा जाकर कहता है कि ट्रीट बिस्कुट खाते हैं। बड़ा हिचकता है, मां ने मना जो किया है। छोटे के इसरार करने पर वह अलमारी में ऊपर रखा बिस्कुट का डिब्बा निकालता है। बड़े भाई के बिना छोटे का अपना हाथ वहां तक नहीं पहुंच रहा था। फिर भी, डिब्बा निकालते हुए छोटा वाला बड़े की फोटो खींच लेता है। मां के लौटने पर फोटो के कारण बड़े को सजा मिलती है और छोटे को 'ट्रीट बिस्कुट'। विज्ञापन का सन्देश है, 'ऐसे नहीं तो वैसे...ट्रीट तो ले ही लेंगे।' यह स्थिति मन में अनेक प्रश्न खड़े करती है। क्या यह स्वभाव निश्छल बच्चों का है? बिस्कुट के पैकेट के लिए छोटा बच्चा इस योजना-बद्ध ढंग से षड्यंत्र रच सकता है? पाने की प्रक्रिया में औचित्य-अनौचित्य का कोई खयाल नहीं। बड़ों की दुनिया का कपट, छल-फरेब सब उन तक पहुंच गया है।

बच्चों के वयस्क-व्यवहार का एक और नमूना इस बात में मिलता है कि वे समय से पहले ही अपनी देह के प्रति सजग हो जाते हैं। फैशन मॉडल की तरह वे बेहद 'कूल' या सुपर हॉट' दिखना चाहते हैं। बच्चों को बाजार के सर्वग्रासी प्रभाव से कैसे बचाया जाए, ज़िम्मेदार समाज की भूमिका में इस प्रश्न को सम्बोधित करना हमारी प्राथमिकता बनाना चाहिए।

भारत में दूरदर्शन की आचार संहिता[6] बच्चों की ओर उन्मुख विज्ञापनों के लिए कुछ निर्देश देती है, जिनमें प्रायः यही कहा गया है कि कोई भी विज्ञापन ऐसा नहीं होना चाहिए, जो उस वस्तु को प्राप्त न कर पाने की स्थिति में बच्चों के आत्मविश्वास को खंडित करे। ऐसे भी निर्देश हैं कि बच्चों को भीख मांगते हुए न दिखाया जाए। बदलते समय में उन पर पुनर्विचार ज़रूरी है। कुछ देशों में यह प्रावधान है कि एक ख़ास उम्र से कम आयु के बच्चों के कार्यक्रम में विज्ञापन प्रसारित नहीं किये जाएंगे। क्या ऐसे कोई नियंत्रण हम अपने यहां प्रस्तावित कर सकते हैं? नियम और कानूनों से अधिक आवश्यकता स्वानुशासन की है। घर और स्कूलों की भी इसमें सक्रिय भूमिका बनती है। जितना महत्त्व

साध्य का है, उतना ही साधनों का भी है, भारतीय दृष्टि की यह मूल्य चेतना हमारे समाज की सबसे बड़ी थाती है। बाजारवाद की आंधी इसे ध्वस्त न कर पाये, यह हमारी ज़िम्मेदारी है। सचेत व्याख्या से यह प्रयत्न करना होगा कि हमारे बच्चे लालसा की अंधी गली में न भटक जाएं। विज्ञापन निर्माताओं को इस ओर ध्यान देना होगा कि माध्यम का उपयोग कुछ इस तरह करें कि वह बच्चों के लिए प्रेरक हो। शिक्षा और मूल्यों की दृष्टि से यह जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही स्वस्थ आदतों की दृष्टि से भी। कॉरपोरेट सोशल रेस्पोंसिबिलिटी के तहत इस ओर कुछ प्रयत्न हुए हैं जैसे डेटोल, लाइफबॉय साबुन के हाथ धोने के विज्ञापन।

खाने-पीने की विज्ञापित वस्तुओं में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। उनके पौष्टिक मूल्य की सही सूचना विज्ञापन द्वारा दी जानी चाहिए, तभी तो चुनने की आज़ादी सम्भव हो सकेगी। शिशु-आहार के सभी विज्ञापनों पर रोक लगा दी गयी है। कुछ और नियम भी बनने चाहिए। इस सन्दर्भ में मैगी नूडल्स पर मचा विवाद एक रोचक तस्वीर पेश करता है।

बाजार और विज्ञापन की दुरभिसंधि : मैगी नूडल्स विवाद

हाल-फिलहाल में मैगी पर मचा विवाद विज्ञापन, मीडिया और बाजार के गठजोड़ का विशिष्ट उदाहरण है। मैगी नूडल्स में ऐसे पदार्थ पाये गये, जो बच्चों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं, जबकि इसका विज्ञापन लगातार इतने वर्षों से यह दावा कर रहा है कि जब भी बच्चों को भूख लगे तो दो मिनट में झट से तैयार हो जाने वाली मैगी सबसे अच्छा विकल्प है। टेलीविज़न के रंगीन परदे पर हँसती-खेलती मां और खुश दीखते नटखट बच्चे उपभोक्ताओं को लुभाते हैं। मैगी की टैगलाइन थी, 'टेस्ट भी, हैल्थ भी'। ब्रांड के समर्थन में अमिताभ बच्चन, प्रीति जिंटा, माधुरी दीक्षित के ग्लैमर का जादू भी काम कर रहा था। भारत में इंस्टेंट नूडल्स के बाजार का चौहत्तर प्रतिशत मैगी के कब्जे में रहा है। कोई एजेंसी ऐसी नहीं थी, जो विज्ञापन के दावों की सच्चाई को आंकने या उसे नियंत्रित करने की कोशिश करती। ऐसे में जब उत्तर प्रदेश की खाद्य सुरक्षा लैब से यह रिपोर्ट आयी कि मैगी में सीसे की मात्रा तथा मोनो सोडियम ग्लूटामेट जैसे पदार्थ स्वीकृत सीमा से अधिक हैं तो बाजार में हलचल मच गयी। सरकारी एजेंसियां जागीं...मैगी की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा। विज्ञापन तथा उपभोक्ता-बाजार की दुरभि-सन्धियों का यह पहला चरण था।

दूसरा अध्याय वहां से शुरू होता है, जब बाजार और व्यापार के पैरोकार जांच प्रयोगशालाओं की क्षमता पर सन्देह जताते हैं। नेस्ले जैसी बड़ी कम्पनी को ऐसा आघात भारतीय शेयर बाजार के लिए खतरा बनकर सामने आता है। सरकार की आर्थिक नीतियों, विदेशी पूंजी निवेश के लिए इस तरह के विवादों को संकट बताया जाता है। इस सारे परिदृश्य में अपनी साख बचाने के लिए नेस्ले कम्पनी ने अमेरिका की बहुत बड़ी पी.आर. कम्पनी एपको वर्ल्डवाइड को नियुक्त किया। एपको की प्रतिष्ठा इस बात में भी रही है कि उसने गुजरात के मुख्यमंत्री के रूप में नरेन्द्र मोदी की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने का काम किया। 'वायब्रेंट गुजरात' के शिखर सम्मेलनों के आयोजन में, विज्ञापन से लेकर मीडिया मैनेजमेंट तक एपको की कार्यप्रणाली, निवेशकों का भरोसा जीतने में सफल रही है। इसी एपको कम्पनी ने मैगी के विवादित ब्रांड की बागडोर सम्भाली।

इस सारे विवाद से पहले मैगी ने पिछले बीस वर्ष में केवल मुनाफा ही मुनाफा कमाया था, लेकिन अप्रैल-जून, 2015 में मैगी को लगभग 64 करोड़ रुपये का घाटा हुआ। कुछ महीनों बाद तमाम जांचों, अपीलों के साथ मैगी फिर से बाजार में लौट आयी। हर पैकेट पर उत्तम क्वालिटी के भरोसे की गारन्टी के साथ। एपको वर्ल्डवाइड द्वारा मैगी की पुनःप्रतिष्ठा के लिए जिस तरह मीडिया मैनेजमेन्ट किया गया, उसने नये सिरे से उपभोक्ताओं को आश्वस्त किया। नये विज्ञापन के माध्यम से मैगी ने अपना खोया बाजार-क्षेत्र फिर से प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न किया और लगभग तीस प्रतिशत हिस्सा उसे मिल भी गया, जो लगातार बढ़ रहा है। विज्ञापन और मीडिया के माध्यम से ही यह जंग लड़ी गयी और आगे बढ़ रही है। मैगी विवाद से पहले कोका कोला और पेप्सी जैसी शीतल पेय में कीटनाशक तथा कैडबरी चौकलेट में कीड़े पाये जाने की ख़बरों ने भी बाजार को हिलाकर रख दिया था। ऐसे सभी प्रसंग गम्भीर विमर्श की मांग करते हैं।

मैगी पर लगे बैन को हटाते हुए मुम्बई हाई कोर्ट ने कुछ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां कीं। विज्ञापन में जो दावा किया जाता है, उसे पूरे दायित्व के साथ निभाना ज़रूरी है। अगर पैकेट पर लिखा है तो उत्पाद में वह पदार्थ नहीं होना चाहिए। मैगी ने यह दलील दी कि ऊपर से नहीं डाला गया, यह अवश्य हो सकता है कि जिन तत्वों से मैगी बनी है, उनमें यह पदार्थ रहा हो। हाई कोर्ट ने हिदायत दी कि ऐसा नहीं किया जा सकता। कोर्ट ने अमिताभ बच्चन, प्रीति

जिंटा, माधुरी दीक्षित को भी नोटिस भेजा। जो सेलीब्रिटीज़ विज्ञापन करते हैं, उनकी भी ज़िम्मेदारी बनती है कि वे देखें कि उत्पाद सुरक्षित है या नहीं, विशेषतः जहां बच्चे उपभोक्ता हैं, वहां अतिरिक्त सावधानी की आवश्यकता है। बच्चे विज्ञापनों के प्रति अधिक आकर्षित होते हैं। इसीलिए सावधान रहना ज़रूरी है। कोर्ट के निर्देशों ने विज्ञापन और बाजार के गठबन्धन पर रोक लगाते हुए, विज्ञापन में सबकी भूमिका निश्चित कर उनको उत्तरदायी बनाने की स्वागत योग्य पहल की।

मैगी की कहानी ने विज्ञापन-उद्योग से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण सवालों को सामने लाने में मदद की है। जब भी विज्ञापन के कथ्य, उसकी विषय-वस्तु पर बात होती है तो विज्ञापन-निर्माता तथा मीडिया के सामाजिक दायित्व के पैरोकार दो ध्रुवान्तों पर दिखायी देते हैं। विज्ञापन-निर्माताओं का कहना है कि शील-अश्लील जो कुछ भी दिखाया जा रहा है, वह वही है, जो समाज में घट रहा है, जबकि सामाजिक समीक्षक, मुनाफे पर टिके विज्ञापन-उद्योग को विभ्रम पैदा करने का उत्तरदायी मानते हैं। मैगी ने 'टेस्ट और हैल्थ' का जो दावा किया, लेबल पर जो घोषणा की, उसका पूरी तरह पालन नहीं किया। विज्ञापन लुभाने-ललचाने की कोशिश करता रहा। यह सवाल विज्ञापन की नैतिकता का न भी हो, तथ्यों की सच्चाई का अवश्य है। विज्ञापन-निर्माताओं को कम-से-कम इतना तो सुनिश्चित करना ही चाहिए कि विज्ञापन और लेबल पर दिए गये तथ्य गलत न हों। प्रस्तावित दावों की सच्चाई की जांच के लिए कहने को ऐसी संस्थाएं हैं—एडवर्टाइजिंग एजेंसीज एसोसिएशन ऑफ इंडिया, एडवर्टाइजिंग स्टैंडर्ड्स काउंसिल ऑफ इंडिया, जो विज्ञापन-उद्योग के प्रहरी का काम करती हैं, लेकिन ये कितनी कारगर साबित हुई हैं, यह अलग विषय है, जिस पर आगे चर्चा करेंगे।

विज्ञापन एवं सेलीब्रिटीज़

सेलीब्रिटी समर्थित अपील वाले विज्ञापनों का अपना आकर्षण है। सुब्रोतो सेनगुप्ता ब्रांड पोजीशनिंग की स्ट्रेटीजीज़[7] पर बात करते हुए यह स्थापित करते हैं कि विज्ञापन, मूलतः मनाने, रिझाने वाला सम्प्रेषण है और इसमें सेलीब्रिटी की बड़ी भूमिका इसलिए बनती है, क्योंकि वह सेलीब्रिटी जनता के बीच जिस बात के लिए जाना जाता है, उस पहचान का अंतरण उस ब्रांड और ब्रांड के माध्यम

से उपभोक्ता तक पहुंच जाता है। विश्व स्तर पर विज्ञापन के लिए सेलीब्रिटी समर्थन, व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा में अपने ब्रांड को प्रतिष्ठित करने की बहुत बड़ी रणनीति का हिस्सा है। खेल हो या सिने जगत, उनके हीरोज़ लोगों के महानायक हैं। उनके मुख से कही बात की विश्वसनीयता बहुत बड़ी होती है। सचिन तेन्दुलकर हों या विराट कोहली, अमिताभ बच्चन या शाहरुख ख़ान; विज्ञापन की दुनिया में भी ये सौ करोड़ के क्लब में हैं। विज्ञापन से इतनी दौलत कमाने वालों का क्या कोई उत्तरदायित्व नहीं होगा?

इसी तरह पान मसाला, बैगपाइपर सोडा जैसे उत्पाद के विज्ञापनों को लेकर भी कई बार सवाल उठे हैं। ऊंची हस्तियों द्वारा इनका विज्ञापन इनकी बिक्री को बढ़ावा देता है। युवाओं के आकर्षण का केन्द्र होता है। उन्हें उसमें कुछ स्टाइल दिखता है। बैगपाइपर के लिए लम्बे समय से फिल्मी हस्तियां विज्ञापन कर रही हैं। 'खूब जमेगा रंग जब मिल बैठेंगे तीन यार...आप, मैं और बैगपाइपर (सोडा)'। यह पंक्ति इस अन्दाज़ से कही जाती है कि बात ही निराली हो जाती है। कथित तौर पर यह विज्ञापन बैगपाइपर सोडा का है, लेकिन संकेत बैगपाइपर व्हिस्की की ओर है। यह सरोगेट एडवर्टाइजिंग है, जहां आप कहते कुछ हैं, कहना कुछ और चाहते हैं। कार्लस्बर्ग बियर की जगह कार्लस्बर्ग ग्लास का विज्ञापन भी सांकेतिक है। ऐसे विज्ञापन नैतिकता एवं आचार की दृष्टि से नीति-विरुद्ध हैं, लेकिन देखते-बूझते भी कोई उन पर सीधे ऊंगली नहीं उठा पाता, हां, सामाजिक-क्षेत्र में उन पर अवश्य विवाद बना रहता है।

एलीक पद्मसी तथा आर. बाल्की जैसे विज्ञापन निर्माता इस तरह की सरोगेट एडवर्टाइजिंग के बचाव में अपना मत रखते हैं। उनके अनुसार जब कहने वाला जानता है कि वह क्या कह रहा है और पढ़ने-देखने वाला भी जानता है कि क्या कहा जा रहा है तो फिर पर्देदारी कैसी? इसका एक आशय यह भी है कि बाजार का दबाव सामाजिक दबाव से अधिक काम करता है। इसी पर्देदारी का एक संभ्रान्त रूप कवर्ट एडवर्टाइजिंग का भी है, जहां फिल्मों या अन्य टेलीविज़न कार्यक्रमों में ऐसे अवसर आते हैं, जब कहानी का कोई पात्र/हीरो/हीरोइन पर्दे पर किसी उत्पाद का प्रयोग करते दिखाया जाता है, यह प्रकारांतर से उसका विज्ञापन है। यहां सेलीब्रिटी की ज़िम्मेदारी उतनी नहीं है जैसी कि नाटकीय संरचना के बाहर हो सकती है, फिर भी विज्ञापन हो जाता है। विज्ञापन, मीडिया और बाजार के सम्बन्धों की पड़ताल में इस तरह के पर्दों में चले आ रहे विज्ञापनों पर भी बात होनी चाहिए।

क्या हमारे युग के महानायक इस दिशा में कोई सकारात्मक हस्तक्षेप कर सकते हैं? सम्भवतः हां। जिस आधार पर विज्ञापन-उद्योग में उनकी इतनी पूछ है, अपनी उस सामाजिक प्रतिष्ठा का लाभ वे विज्ञापन के कथ्य की दिशा निर्धारित करने के लिए भी कर सकते हैं। विज्ञापन का चुनाव भी, उनका अपना चुनाव है। उन्हें तय करना है कि वे किस उत्पाद को समर्थन देंगे, किसको नहीं और जिसको देंगे, उसकी सत्यता के प्रति आश्वस्त होने के बाद ही उसका विज्ञापन करेंगे। इस दिशा में एक नयी पहल हाल-फिलहाल में हुई। विज्ञापन जगत में विशेष लोकप्रिय, क्रिकेट कप्तान महेन्द्र सिंह धोनी, आम्रपाली रियल एस्टेट ग्रुप के ब्रांड-एम्बेसडर थे। बिल्डर, उपभोक्ताओं की उम्मीद पर खरा नहीं उतरा। बिल्डर का काम आधा-अधूरा था। लोगों को समय पर फ्लैट नहीं मिले। उन्होंने ट्विटर पर धोनी को घेरना शुरू कर दिया। अपनी छवि की रक्षा के लिए धोनी ने बिल्डर तथा उपभोक्ताओं के बीच मध्यस्थता की, जिससे बिल्डर को उपभोक्ताओं की मांगों को गम्भीरता से लेना पड़ा। इसके बाद धोनी ने स्वयं को इस ब्रांड से अलग कर लिया। क्या इस घटना से विज्ञापन-क्षेत्र में सेलीब्रिटी समर्थन की कोई नयी दिशा खुलेगी, यह भविष्य ही तय करेगा, लेकिन यह एक नयी शुरुआत कही जा सकती है।

कभी यह सवाल भी पूछा जाना चाहिए कि ये बड़ी-बड़ी हस्तियां जिस उत्पाद का विज्ञापन कर रही हैं, क्या स्वयं उसका इस्तेमाल करती हैं। माधुरी दीक्षित ने हाल ही में यह बताया है कि वे भले ही ऑयल ऑफ ओले की ब्रांड एम्बेसडर हों, लेकिन वे इस सौन्दर्य क्रीम का उपयोग नहीं करतीं, उनकी खूबसूरती का राज कुछ और ही है। इंटरनेट की दुनिया में इस सच्चाई के बयान से काफी हंगामा मचा। साधारण व्यक्ति इस तरह की बातों से स्वयं को छला हुआ महसूस करता है, लेकिन इसे एक साहसिक कदम समझना चाहिए। ऐसे और खुलासों से सेलीब्रिटी विज्ञापनों में जनता का विश्वास कुछ कम होगा।

इस दृष्टि से फिल्मी हस्तियों के बीच नयी चेतना जागी है। एक अख़बार के इंटरव्यू में नवाजुद्दीन सिद्दीकी ने माना कि 'जो प्रोडक्ट आप एंडोर्स कर रहे हैं, उसके साइड इफेक्ट्स के बारे में आपको सावधान होना चाहिए, यदि कुछ भी गलत होता है तो सब बराबर के आरोपी होंगे।' उन्होंने माना कि वे कभी भी गोरेपन की क्रीम का विज्ञापन नहीं करेंगे, क्योंकि उससे डिप्रेशन होता है।' उनकी

बात सही है, क्योंकि गोरापन, सामाजिक विभेद पैदा करता है। ऐसे विज्ञापन सारे विमर्श को ताक पर रखकर आपके व्यक्तित्व की विशिष्टता व आत्मविश्वास को चमड़ी के रंग से जोड़ देते हैं। बाजार का हित और सामाजिक विमर्श दोनों एक-दूसरे का विपर्यय बन जाते हैं।

इन सारी चर्चाओं का सकारात्मक पक्ष यह है कि संवाद होने लगा है। इस उद्योग के जितने भी स्टेकहोल्डर हैं, वे अपनी भूमिका को लेकर सचेत हुए हैं। संवाद से परिवर्तन सम्भव होते हैं।

विज्ञापन का जादू और उपभोक्ता संरक्षण

विज्ञापन की दुनिया ने अलग-अलग हितों की दृष्टि से स्वयं को संगठित किया है। एक बड़ा उद्योग होने के नाते कई संस्थाएं हैं, जो इस दिशा में सक्रिय हैं। विज्ञापन माध्यम के आधार पर कोई मोबाइल विज्ञापन एजेंसियों की संस्था है—IAMAI, कोई बाह्य विज्ञापनों पर केन्द्रित है—IOAA, कोई ब्रॉडकास्ट का संगठन है—IBF, कोई टी.आर.पी. आंकने का—BARC, विश्व-मंच पर भारत के विज्ञापन-उद्योग का प्रतिनिधित्व करने के लक्ष्य से बनी—ACI, आदि। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण, विज्ञापन जगत में प्रहरी की भूमिका निभाने वाली दो संस्थाएं हैं—AAAI, एडवर्टाइज़िंग एजेंसीज एसोसिएशन ऑफ इंडिया, ASCI—एडवर्टाइज़िंग स्टैंडर्ड्स काउंसिल ऑफ इंडिया।

1945 में कलकत्ता में पांच विज्ञापन एजेंसियों ने मिलकर एडवर्टाइजिंग एजेंसीज एसोसिएशन ऑफ इंडिया की स्थापना की। 1961 में इसका केन्द्र कलकत्ता से बदलकर मुम्बई हो गया। आज यह राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञापन एजेंसियों का आधिकारिक संगठन है। भारतीय विज्ञापन जगत की लगभग अस्सी प्रतिशत छोटी-बड़ी विज्ञापन एजेंसियां इसकी सदस्य हैं। इसका मुख्य उद्देश्य विज्ञापनकर्ता, विज्ञापन एजेंसी तथा मीडिया संस्थानों के व्यापारिक सम्बन्धों को सुदृढ़ करना रहा है। इसकी साख विज्ञापन एजेंसियों के प्रतिनिधिक संगठन एवं प्रवक्ता की है। आरम्भिक दौर में, विज्ञापन से जुड़े किसी भी प्रकार के विवाद को सुलझाने की ज़िम्मेदारी यह संस्था निभाती रही है।

एडवर्टाइज़िंग स्टैंड्डर्स काउंसिल ऑफ इंडिया की स्थापना 1985 में हुई। यह एक गैर-सरकारी संस्था है, जिसे विज्ञापन जगत ने स्वयं अपने ऊपर अनुशासन रखने के लिए बनाया। विज्ञापन से जुड़ी शिकायतें इनके पास दर्ज की

जाती हैं और उनके निवारण या प्रसारण पर इनका निर्णय सर्वमान्य होता है। इसने एक आचार-संहिता स्वीकार की है, जिसके लागू करने से उपभोक्ताओं को गुमराह करने वाले विज्ञापनों पर रोक लग सके। इस आचार-संहिता में कुछ मुख्य सिद्धान्त स्वीकार किये गये, जिनके निर्देशानुसार सभी विवाद सुलझाने का प्रयास किया जाता है। इसका सबसे पहला लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि विज्ञापन में किये गये दावे सच्चे-खरे, ईमानदार हों और भ्रम पैदा करने वाले विज्ञापनों से कैसे बचा जाए। सभ्य-समाज में रहते हुए यह भी आवश्यक है कि विज्ञापन किसी की भावनाओं को ठेस पहुंचाने वाले या शालीनता की सीमा का अतिक्रमण करने वाले न हों। व्यक्ति या समाज के लिए किसी भी रूप में हानिकारक वस्तुओं के विज्ञापनों का निषेध किया गया है, जैसे सिगरेट या अन्य नशीले पदार्थों के विज्ञापनों पर प्रतिबन्ध है। यह संस्था यह भी सुनिश्चित करने का प्रयत्न करती है कि विभिन्न ब्रांडों के बीच निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा हो और उपभोक्ताओं को बाजार में उपलब्ध सभी विकल्पों के बीच सही चुनाव करने का उचित अवसर मिले। गैर-सरकारी संस्था होते हुए भी इनका सरकार से सहयोग बराबर बना रहता है। उपभोक्ता मामलों के सरकारी विभाग के वेब पोर्टल www.gama.gov. in, (जो भ्रामक विज्ञापनों की शिकायत तथा अनुचित व्यापार पद्धतियों को रोकने के लिए है) पर आयी एक हजार शिकायतों का निवारण इस संस्था के सहयोग से हुआ है। इसने स्वयं भी विज्ञापन सम्बन्धी शिकायतों को दर्ज करने के लिए ऑनलाइन सुविधा प्रदान की है। उनकी जांच के निष्कर्षों के आधार पर अधिकृत विभाग कार्रवाई करते हैं। विज्ञापन की जवाबदेही की दृष्टि से यह संस्था सक्रिय भूमिका निभा रही है।

उपभोक्ता संरक्षण तथा जागरूकता के लिए उपभोक्ता मामले तथा खाद्य एवं जन वितरण मंत्रालय भी कटिबद्ध है। जनता को चेताने वाले 'जागो ग्राहक जागो' के सभी विज्ञापन उनके द्वारा जारी किए जाते हैं। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भी यदि विज्ञापन के प्रसारण में कुछ अनुचित पाता है तो उस पर कार्रवाई करता है। विज्ञापन की विषय-वस्तु, भाषा तथा प्रस्तुति में अभद्रता, अशालीनता की रोकथाम में ये सरकारी विभाग तत्पर हैं।

नियंत्रण एवं संरक्षण के लिए और भी अनेक प्रावधान हैं, किन्तु सबसे बड़ा अंकुश स्वानुशासन है। विज्ञापन उद्योग में जो भी लोग शामिल हैं, उन्हें अपना दायित्व स्वयं सुनिश्चित करना होगा। विश्व में विज्ञापन जगत के

सिरमौर डेविड ओगिल्वी के जो उद्धरण बार-बार दोहराये जाते हैं, उनमें उन्होंने विज्ञापन की सत्यता पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार उपभोक्ता का दर्जा पत्नी के समान है, जैसे आप अपनी पत्नी से झूठ नहीं बोलेंगे, वैसे ही उपभोक्ता से भी कभी झूठ नहीं बोलना चाहिए, साथ ही उपभोक्ता की समझदारी पर भी सन्देह नहीं करना चाहिए। आप कुछ विशेषण जोड़कर या पंक्तियां उछालकर विज्ञापन नहीं बना सकते, आपकी पत्नी की ही तरह उपभोक्ता आपसे पूरी जानकारी चाहता है।[8] शायद यह विज्ञापन उद्योग के लिए आचार-संहिता का प्राथमिक निर्देश बन सकता है।

और अब अंत में

विज्ञापन मीडिया और बाजार के अंतर्सम्बन्धों, उनके विविध पक्षों पर इतनी चर्चा करने के बाद भी भविष्य के लिए किन्हीं स्थायी निष्कर्षों तक पहुंचना सम्भव नहीं। भूमंडलीकरण में बाजार का मैट्रिक्स, संरचनाओं को जटिलतर बना रहा है। अब दबाव पूरे विश्व को उपभोक्ता बनाने का है। अपना माल विश्व के अधिकांश लोगों को बेचना है। भारत एवं चीन जैसे बहुजनसंख्या वाले देश यूं ही अंतरराष्ट्रीय ब्रांडों के चहेते नहीं बन गये। बाजार की प्रतिस्पर्धा जितनी तेज होगी, विज्ञापन की ज़रूरत, उसकी आक्रामकता व आकर्षण उतने ही बढ़ते जाएंगे।

तकनीक के सहारे संचार और सम्प्रेषण में जो आन्दोलनकारी परिवर्तन हुए हैं, उन्होंने हमारे जनसमाज का चेहरा भी हमेशा के लिए बदल दिया। सुख-सन्तोष के बीते हुए दिनों को हम कितना ही याद करें, फिर से उस समय में लौट पाना सम्भव नहीं। मीडिया की क्रान्ति ने इस सारी उथल-पुथल को और तीव्र किया है। विज्ञापन एजेंसियां मीडिया की ताकत का पूरा इस्तेमाल कर रही हैं। पूरा बाजार हथियाने की मुहिम में मीडिया संस्थानों को अपने पक्ष में करना ज़रूरी हो गया है। मीडिया के माध्यम से ही उपभोक्तावाद पोषित होता है। टेलीविज़न कार्यक्रम, फिल्में, सब प्रकारांतर से जनता के सपनों की दिशा बाजार की ओर मोड़ने में व्यस्त हैं।

आजकल टेलीविज़न पर विदेशी मीडिया चैनल अमरीकी या ब्रिटिश कार्यक्रमों का प्रसारण कर रहे हैं। इन कार्यक्रमों में उपस्थित जीवन शैली युवाओं और बच्चों के बीच काफी लोकप्रिय हो रही है। इनकी संस्कृति हमसे बहुत भिन्न है, इसलिए दक्षिण एशियाई देशों के लिए यह लगभग सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का पर्याय है।

यह अपने आपमें एक ख़ास जीवन-शैली का ही विज्ञापन है। भारतीय चैनलों में भी जो कार्यक्रम प्रसारित हो रहे हैं, उनकी विषय-वस्तु विज्ञापन की सुविधाओं को हमारे अवचेतन में दर्ज करती चलती है। कितने मीडिया संस्थानों ने यह स्वीकार किया है कि उन पर इस बात का दबाव रहता है कि कार्यक्रमों को हल्का-फुल्का रखा जाए, जो बाजार की उत्सवधर्मिता को पोषित करे। गम्भीर वैचारिक-विमर्शों को प्रोत्साहित करने वाले सन्देश और छवियां लगभग अनुपस्थित होने जा रहे हैं। विज्ञापन, मीडिया की आय का साधन है। आपके अख़बार से लेकर फ्री टी.वी. चैनल, सब विज्ञापन द्वारा अर्जित आय के दम पर चले रहे हैं। ऐसे में विज्ञापनदाताओं की बाजारी नीतियों का प्रभाव मीडिया की विषय-वस्तु को निश्चय ही नियंत्रित करेगा। यही आभासी यथार्थ की विडम्बना है। मीडिया की आचार-संहिताएं, उपभोक्ता संरक्षण के प्रावधान प्रहरी की भूमिका तो निभाते हैं लेकिन भूमंडलीकरण समाज में जब राजनीतिक-आर्थिक नियंत्रण बड़े व्यापारिक घरानों के हाथ हो, उसमें बाजार की ताकत से निरपेक्ष रह पाना कितना सम्भव है, कहना कठिन है। विज्ञापन, मीडिया और बाजार का त्रिगुट अभी लम्बे समय तक स्थायी रहने वाला है, ऐसी ही सम्भावना है।

सन्दर्भ

1. जनवरी, 2016 के बिज़नेस स्टैण्डर्ड में प्रकाशित रिपोर्ट के आधार पर http://www.business-standard.com/article/companies/ad-spend-in-india-to-grow-at-15-5-in-2016-says-groupm-116012000014_1.html January 20, 2016
2. जैनेन्द्र कुमार निबन्धों की दुनिया पृ. 127-128, सम्पादक निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
3. David M. Potter, People of Plenty, Chapter VIII. The Institution of Abundance: Advertising, The University of Chicago Press Books, Chicago, 2009
4. "Advertisements present highly circumscribed views of women's lives. Even the time when women were entering the workforce in unprecedented numbers, advertisements failed to depict a significant increase in women's employment outside the house". Sangeeta Sharma and Raghuvir Singh, Advertising: Planning and Implementation, pg 45 Prentice-Hall of India, New Delhi, 2006

5. "In our assessment, many children have begun to associate happiness with owning or possessing a toy or with simply being indulged. Several children from middle to upper class backgrounds told us that they loved to 'show off' their latest acquistions in school where there were always some children who outdid them and kept the consumer momentum alive....."
   Namita Unnikrishnan, Shailja Bajpai,The Impact of Television Advertising on Children pg 251 Sage Publications, New Delhi, 1998.
6. REVISED CODE FOR COMMERCIAL ADVERTISING ON DOORDARSHAN pg 7
   www.ddindia.gov.in/Business/Documents/complete%20code.pdf%20final.pd
7. No advertisement for a product or service shall be accepted if it suggests in any way that unless the children themselves buy or encourage other people to buy the products or services, they will be failing in their duty or lacking in loyalty to any person or organisation.
8. No advertisement shall be accepted which leads children to belief that if they do not own or use the product advertised they will be inferior in some way to other children or that they are liable to be condemned or ridiculed for not owning or using it.